

मंजिल तो है मगर पहुंच नहीं पाते

अक्सर शिक्षा के बारे में प्रचलित नजरिए और मान्यताओं से हटकर विचार विमर्श करने पर चर्चा में शामिल लोगों की सहज प्रतिक्रिया होती है कि, 'वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में क्या कमी है, क्या हम लोग इसी शिक्षा व्यवस्था से निकलकर नहीं आए हैं ?' हैरानी तब होती है जब ऐसा पढ़े-लिखे, नौकरीयापता और शिक्षा के पेशे में विभिन्न स्तरों पर जुड़े लोग कहते हैं। यह कथन मध्यमवर्ग के गहरे आत्मसंतोष को दर्शाता है। लेकिन मध्यमवर्ग के इस आत्मसंतोष की वजह क्या है ? इसकी एक वजह अपने शैक्षिक अनुभवों को आलोचनात्मक नजरिए नहीं देख पाने की क्षमता है और दूसरे अपने प्रति परिपूर्णता के भाव के कारण।

दरअसल सामाजिक-आर्थिक सोपानों पर अपनी सुरक्षित स्थिति बना लेने के बाद यह मध्यमवर्गीय अहसास और गहरा हो जाता है। धुर व्यक्तिवाद को पोषित करती नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था में स्वयं को सुरक्षित स्थितियों में पाकर परिपूर्णता का यह बोध मध्यमवर्गीय मानस में और गहरी जगह बनाता है। लेकिन हमें लगता है कि इस तरह के कथनों में कई तरह की अनदेखियां भी शामिल हैं। एक अनदेखी तो वंचित वर्ग के उन तमाम बच्चों की है जो स्कूल तक पहुंच ही नहीं पाते और दूसरी, यदि बच्चे स्कूल पहुंच भी जाते हैं तो उन्हें स्कूल कितनी अवधि तक अपने भीतर बनाए रखता है; जिसे शिक्षा में ठहराव की समस्या से जोड़कर देखा जाता है। आज भी प्राथमिक शिक्षा में बच्चों का ड्रॉपआउट 29 प्रतिशत है। इनमें से उच्च प्राथमिक में पहुंचने वाले बच्चों के ड्रॉपआउट का प्रतिशत 51 है। प्राथमिक से माध्यमिक स्तर का समेकित ड्रॉपआउट का आंकड़ा 62 प्रतिशत तक पहुंच जाता है (सलेक्टेड एज्युकेशनल स्टेटिक्स, भारत सरकार, 2004-05)। इसका एक मतलब है कि जो बच्चे स्कूल पहुंचे (और ऐसे भी बहुत से बच्चे हैं जो स्कूल पहुंच ही नहीं पाते) उनमें से हमारी शिक्षा व्यवस्था स्कूल आयु के बच्चों की बड़ी संख्या को बाहर कर देती है।

स्कूलों में बच्चों के ठहराव की समस्याओं को अक्सर स्कूल के बाहर स्थित कारणों में खोजने का चलन रहा है। यही वजह है कि इस विषय पर आयोजित तमाम अध्ययन उन आर्थिक-सामाजिक कारणों को ही केन्द्र में रखते हैं जिनके सही होने की संभावना तो है लेकिन जिसे पूर्णतः सही नहीं माना जा सकता। बच्चों के ठहराव की समस्या भी मध्यमवर्गीय समस्या नहीं है। यह समस्या उन इलाकों, समूहों और वर्गों के बच्चों की ज्यादा है जिनकी पहली पीढ़ी शिक्षा में दस्तक दे रही है और इनमें भी दूर-दराज के ग्रामीण इलाकों या अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के बच्चे एवं खासतौर से बालिकाएं हैं। यह एक हकीकत है जहां मध्यमवर्गीय माता-पिता अपने बच्चों के लिए आईआईटी और एमबीए जैसे धन वर्षा के पाठ्यक्रमों में जाने के सपने देख रहे हैं वहीं वंचित वर्ग के बच्चे अभी भी अपनी प्राथमिक और उच्च प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के लिए जूझ रहे हैं। उनके लिए मंजिल तो है लेकिन वे कहीं पहुंच नहीं पाते।

इसी से जुड़ी दूसरी चिन्ता का विषय स्कूल से बाहर हो जाने या या कर दिए जाने वाले बच्चों के अन्दर कूट-कूटकर भरा गया असफलता से उपजा अपराधबोध है। ग्रामीण क्षेत्र के ऐसे तमाम बच्चों के साथ अनौपचारिक बातचीत में यह प्रकट होता है कि स्कूल में असफल होने या नहीं बने रह पाने को वे अपनी व्यक्तिगत कमजोरी या असफलता मानते हैं। शिक्षकों को भी बेहिचक कहते सुना जा सकता है कि, 'ये बच्चे कुछ सीखते ही नहीं हैं। ये मंद बुद्धि बच्चे हैं'। स्कूल की असफलता को बच्चों पर इस तरह चसा किया जाता है कि बच्चे भी अपने 'गुनाह' को स्वीकारते हुए कहते हैं कि, 'हमारे अन्दर दिमाग ही नहीं है'। माता-पिता भी इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए कहते हैं कि, 'साब क्या करें! इसके दिमाग ही नहीं है। हमने तो बहुत कोशिश कर ली। अब क्या करें'। यह स्थिति तब और जटिल बन जाती है जब इसे भाग्य से जोड़कर देखा जाने लगता है। ऐसा भाग्य जिसे जाने-अनजाने गढ़ने का काम बचपन में घर-परिवार से शुरू होकर स्कूल तक में चलता है। गहरे घर किए बैठे इस विचार की समस्या यह है कि यह स्कूली शिक्षा व्यवस्था के बारे में आलोचनात्मक नजरिए को बनने ही नहीं

देता। इसके परिणामस्वरूप समस्याओं के कारण व्यवस्था में नहीं खोजकर व्यक्ति में खोजने की प्रवृत्ति जन्म लेती है और यह स्थिति मौजूदा हालात में परिवर्तन करने की दृष्टि और क्षमता में बाधा ही उत्पन्न करती है। यह सोच हमारी भाग्यवादी दृष्टि से भी मेल खाती है। शिक्षा का यह भाग्यवादी नजरिया अवधारणा के रूप में वस्तुतः शिक्षा चिन्तन और कर्म के विरोध में ही खड़ा होता है। शिक्षा की अवधारणा में ही निहित है कि प्रत्येक व्यक्ति क्षमतावान है, वह सीख सकता है और अपनी स्थिति में परिवर्तन कर सकता है (हालांकि यह सही है कि इस तरह का भरोसा हमारी मौजूदा शिक्षा व्यवस्था कम ही जगा पाती है) लेकिन यह भी सही है कि शिक्षा मानवीय क्षमताओं में विश्वास के परिणाम से ही संभव है।

इस अंक में शामिल रोहित धनकर का लेख 'भरोसेमंद स्कूली व्यवस्था के बारे में विचार' फौरीतौर पर गिनाए जाने वाले तमाम कारणों को दरकिनार करते हुए स्कूल व्यवस्था पर सोचने के लिए आमंत्रित करता है और ऐसी स्कूल व्यवस्था की पैरवी करता है जो गरीब अभिभावकों की उदासीनता को कारण बनाए बिना और किन्हीं परंपरागत मूल्यों या जन्मजात क्षमताओं के आधार पर बच्चों में भेदभाव किए बिना प्रत्येक बच्चे की सफलता की जिम्मेदारी लेता हो। कृष्ण कुमार का लेख 'स्कूल में हस्तशिल्प' भरोसेमंद स्कूल को एक और आयाम प्रदान करता है। हमारी स्कूली व्यवस्था में उपेक्षित हस्तशिल्प की समस्याओं को तरतीब से सामने रखते हुए वे बताते हैं कि हस्तशिल्प सिर्फ बच्चों को किसी काम में निपुण करने भर के लिए नहीं हैं बल्कि यह सिद्धान्त और व्यवहार में बच्चों के भावनात्मक, आर्थिक और बौद्धिक सशक्तीकरण का माध्यम है। वे बताते हैं कि जब बच्चे शिल्प सीखते हैं तब वे एक ऐसी प्रक्रिया में भागीदारी करते हैं जो प्रत्येक शिक्षार्थी को एक स्नेहिल पर सख्त परंपरा के तहत प्रयोग करने का पर्याप्त मौका उपलब्ध करवाती है जो कि बच्चों में आत्मविश्वास, स्वयं निर्णय करने की क्षमता एवं सौन्दर्यबोध का विकास करता है।

मनीष जैन का लेख औपनिवेशिक भारत में शिक्षा के माध्यम से मानसिक गुलामी के लिए रचे जा रहे ब्यूह को नागरिक शास्त्र के रूप में परोसे जाने की पड़ताल करते हैं। उनका लेख बताता है कि शिक्षा के माध्यम से औपनिवेशिक काल में एक ऐसे भारतीय मानस को रचने की कोशिश की गई जो कि अपनी चिन्तन परंपरा के नकार और थोपे गए मानदण्डों से अपनी छवि की निर्मिति करता है।

अमन मदान के साथ बातचीत में शिक्षा के समाजशास्त्र को केन्द्रीय विषय बनाया गया है। अमन मदान कहते हैं कि शिक्षा अपने प्रचलित तरीकों में समाज में भूमिकाओं के निर्धारण का काम करती है। वे प्रचलित शिक्षा की अवधारणा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि शिक्षा समाज में सिर्फ भूमिकाएं तय करने का ही काम नहीं करती बल्कि वह सशक्तीकरण और आलोचनात्मक चिन्तक का विकास भी कर सकती है; जैसाकि पाउलो फ्रेरे कहते हैं। हालांकि मौजूदा शिक्षा व्यवस्था के बारे में उनका कहना है कि शिक्षा ऐसा कर नहीं रही है।

जॉन डिवी का लेख किसी उद्देश्यपूर्ण गतिविधि के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लक्ष्यों की स्पष्टता, लक्ष्यों तक पहुंचने की रणनीति और गतिविधि के परिणामों के पूर्वानुमान को आवश्यक मानते हैं। उनका मानना है कि शिक्षा एक सुविचारित गतिविधि है इसलिए वे शिक्षा को संवेग या इच्छा से अलग करके देखते हैं। हालांकि वे किसी कार्य के प्रति गहरी प्रतिबद्धता के लिए संवेग की तीव्रता और बलवती इच्छा को आवश्यक मानते हैं।

रूपा का लेख भाषा शिक्षण पर किए अपने काम के आधार पर बताती हैं कि यदि बच्चों के साथ प्रेम और विश्वास के साथ सीखने और उन्हें अवसर देने के प्रयास किए जाएं तो बच्चों का सीखना न केवल सुगम होता है बल्कि भाषायी क्षमताओं के साथ बच्चों में एक भरोसा भी जगाता है। यह भरोसा जहां एक ओर उपयुक्त शिक्षण विधि चुनने से जुड़ता है वहीं बच्चों के लिए शिक्षण के उपयुक्त माहौल रचने की पैरवी भी करता है। स्वयं प्रकाश की बाल साहित्य समीक्षा बाल साहित्य रचना के लिए बाल सुलभ कल्पनाशीलता, सुरुचि और भाषायी लालित्य के लिए यह आवश्यक मानते हैं कि स्वयं रचनाकार बाल संसार का हिस्सा बने। ♦

विश्वेश्वर